'सर्वोदय' की साधना

"विजय, मैं क्या करूँ, आहारके समय मर्यादाको लाँघकर भोजन कर लेता हूँ, पर पेटकी ज्वाला शान्त नहीं होती। ऐसा लगता है कि खाए ही जाऊँ। कभी घी, दूध आदि पदार्थ अधिक मात्रा में मिल जाते हैं तो क्षणभर शान्ति रहती है। फिर यह ज्वालामुखी भड़क उठता है। यह भस्मक मुझे भस्म ही करना चाहता है। अतः अब मेरा विचार शरीररक्षाका नहीं, आत्मरक्षाका ही होता जा रहा है। मैंने तुम्हारी सलाह मानकर आहारमें किंचित् ढिलाई भी की पर उसका कुछ असर नहीं हुआ। अब मैं शान्तिसे आत्माराधना करके इस शरीरको छोड़ देना चाहता हूँ और चाहता हूँ कि गुरुजीसे आज्ञा दिलानेमें तुम हमारी सहायता करो।" ये शब्द अपने लघु सधर्मा विजयसे बड़ी व्यग्रतासे समन्तभद्रने कहे।

विजय—भन्ते, आपको मैं क्या समझाऊँ ? मैं तो इतनी बात सदा कहता आया हूँ कि शरीरके सुखानेको तप नहीं कहते। आपने मेरी बात न मानकर सदा रूक्ष भोजन लिया और लगातार ग्रन्थ-निर्माणमें कठोर परिश्रम किया। मैं आपका बनाया गया 'देवागम स्तोत्र' पढ़ता हूँ तो जी में ऐसा लगता है मानों मैं भगवान्‌के समवसरणमें बैठा हुआ उनका स्तवन कर रहा हूँ। आपकी आत्मा उसमें घुल गई है। अपने जीवन का यह सत्य [1]'आभ्यन्तर तपकी वृद्धिके लिए बाह्यतप तपना चाहिए' आप सदा कहते हैं। पर सोचिए तो सही, शीघ्रतासे आभ्यन्तर प्राप्तिकी तृष्णा भी अन्ततः तृष्णा ही है और [2]'तृष्णाज्वालाएँ जलाती हैं वे शान्त नहीं होतीं' के अनुसार वस्तुतः वह तृष्णा भी मनुष्यको उतना ही आकुल करती है जितनी कि धनार्थी को धनतृष्णा। आपसे मानवजातिका समुत्थान होनेवाला है। युगोंमें आप जैसे विरले ही पुरुष होते हैं जिनसे मानवजातिके विकासको एक गति मिलती है। उसे आगे बढ़नेके लिए एक धक्का लगता है।

समन्तभद्र—विजय, मैं बड़ी दुविधामें पड़ा हूँ। एक ओर तो मुझे अपने मुनिव्रतको अखंडित रखना है दूसरी ओर यह भी भावना है कि जब हमने सब कुछ छोड़ा और सांसारिक सभी बन्धनोंसे मुक्त होकर सर्वभूतमैत्रीकी महाभावनाको जीवनमें उतारनेके लिए निकले तब इस मनुष्य जनमका पूरा उपयोग उस मैत्रीभावके विकासमें किया जाय। यह भी विचार मनमें आता ही है कि अब यह रोग निष्प्रतीकार—असाध्य मालूम होता है। अतः समपरिणामोंसे समाधिमरण करके वर्तमान जीवनका अन्त किया जाय। इस मनोमंथनमें मुझे यदि भीतरसे पूछो तो 'सर्वभूतमैत्री' की उपासना ही सर्वाधिक प्रिय है। जब मैं धर्मके नामपर अहंकारका पोषण देखता हूँ। आत्मधर्मके क्षेत्रमें भी व्यावहारिक बाह्य जाति-पाँति, कुल, बल, शरीर आदि जड़धर्मोंकी उपासना देखता हूँ और देखता हूँ कि इस आत्मशोधक जैनधर्मके धारण करनेवाले श्रमण भी ज्ञान, पूजा, ऋद्धि और तपका भी अहंकार करके मदकी ही पूजा कर रहे हैं तब जी ऐसा विचलित होता है कि इस तरह ये इसको कैसे टिका सकेंगे। ये इन अहंकारोंसे मदमत्त होकर अनेक प्रकारकी कल्पित रेखाएँ मानव-मानवमें खींचकर अन्ततः भौतिकताकी ही पूजा कर रहे हैं। इन्हें "न धर्मो धार्मिकैर्विना—धर्मात्माओंके बिना धर्म नहीं होता" इस साधारण सत्यका ही पता नहीं है। विजय, उस दिनकी घटनासे तो मेरा जी सिहर उठता है जब अपने ही सामने उस आत्मदर्शी मातंगका तिरस्कार इन धर्माभिमानियोंने किया था। मालूम हुआ कि पीछेसे उसे पीटा भी गया था। यदि वह विचारा मेरे उपदेशको सुन रहा था तो उससे इनका क्या बिगाड़ होता था ?

---

१. 'बाह्यं तपः परमदुश्चरमांचरस्त्वमाभ्यन्तरस्य तपसः परिवृंहणार्थम्।'

२. 'तृष्णार्चिषः परिदहन्ति न शान्तिरासाम्।' —बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"भन्ते, उसकी बात न छेड़ो। यह सब खुरापात चण्डशर्मा की थी। उसने ही आनन्द आदिको उकसाया था। आनन्द पछता रहा था कि "हम लोगोंने बड़ी भूल की जो उस समभावी धर्मात्माका अपमान किया। हमें तो पीछे मालूम हुआ कि मद्य, मांसादिका त्यागकर व्रतोंको धारण किया था। महाराज, उस दिन उसने एक ही वाक्य कहा था 'क्या श्रमणोंमें भी अहिंसा, वीतरागता और समता केवल उपदेशकी ही वस्तु है ?' पर हमें तो जातिका मद चढ़ा था। उसकी इस बातने हमारी क्रोधाग्निमें घीका काम किया। हम अपना विवेक खो बैठे। और थोड़े ही दिन पहिले पढ़ा हुआ यह पाठ[1] भी भूल गए जिसमें सम्यग्दृष्टि चांडाल आया, आँखें डबडबा आईं। रुँधे हुए कंठसे फिर बोला, "महाराज, उस विचारेने और कुछ भी नहीं कहा ? वह हमलोगों की ओर मैत्रीभावसे ही देखता रहा। उसकी समतासे हमारा पशु शान्त हुआ और हम पराजित होकर ही लौटे थे। उसी दिन हमलोगोंने समझा कि चण्डकी संस्कृतिसे हमारी श्रमण संस्कृति जुदी है। एकका रास्ता विषमता, परतन्त्रता, वर्गप्रभुत्व, अहंकार और घृणाका है तो दूसरेका समता, स्वतन्त्रता-व्यक्तिस्वातन्त्र्य, शान्ति और सर्वमैत्रीका है। एक वर्गोदय चाहती है तो दूसरी सर्वोदय। इसीलिए दो-तीन दिन तक हमलोग आपको अपना मुँह दिखाने नहीं आए थे।"

समन्तभद्र—विजय, सचमुच, वे पछता रहे थे ? अच्छा हुआ जो उन्हें सद्बुद्धि आई। तुम उन्हें 'रत्नकरण्डक' तो पढ़ा ही रहे हो ?

विजय—भन्ते, यह उसी का संस्कार है जो उन्हें सुमति आई। उनके भीतर का मानव जागा। अस्तु।

समन्तभद्र—विजय, मेरा मन इस समय दोलित है। वह पीपलके पत्तेकी तरह चंचल है। चिरसाधित व्रत और तपोंको जिनकी साधनामें जीवनका सारभाग बीता अब इस ढलती उमरमें यों ही शिथिल करूँ ? विजय, मुझसे यह नहीं होगा। अपने ही हाथों अपना आत्मघात ! "आदहिदं कादव्वं जइ सक्कइ परहिदं च कादव्वं—आत्महित हो कर्तव्य है और जितना हो सके परहित करना चाहिए" यही हमारा सम्बल है। अतः मैं अब समाधिमरणकी आज्ञा लेने गुरुदेवके पास जाता हूँ। विजय, मुझे सम्भालना, मैं शान्तिसे निराकुल हो मृत्युमहोत्सव मना सकूँ।

समन्तभद्र और विजय तुरंत गुरुदेवके समीप पहुँचे। विषण्णवदन समन्तभद्र को असमयमें आया देखकर गुरुदेव बोले :—

भद्र, तुम इतने आकुल-व्याकुल क्यों हो ? मैं तुम्हारे मनोमन्थनको जानता हूँ और जानता हूँ तुम्हारी आत्मव्यथा को। कहो, तुम क्यों विचलित हो ? तुम जगत्में शासन-प्रभावक महापुरुष होओगे। दिव्य, तुम 'सर्वोदय तीर्थ' पर आए हुए आवरणको इस तमस्तोमको चीरकर उसके समन्ततः भद्र स्वरूपको प्रकट करने वाले होओगे।

समन्तभद्र—गुरुवर, मेरा शरीर भस्मक रोगसे भस्मसात् हो रहा है। रक्त सूख गया है, मांस और चर्बी जल चुके हैं। अब हड्डियाँ तड़तड़ा रही हैं। इस समय मुझे आप अन्तिम समाधि देकर मेरी इस भव की साधनाकी अन्तिम आहुति दीजिए और आशीर्वाद दीजिए कि जिस प्रामाणिकता और निष्ठासे मैंने आपके द्वारा दिए गए व्रतोंको आज तक निरतिचार पाला है उसका अन्त महोत्सव भी उसी निष्ठासे कर सकूँ। गुरुदेव, आपका अनन्त स्नेह ही हमारा आधार है। हम तो अकिंचन हैं।

गुरुदेव—भद्र, इतने आतुर न होओ। अभी तुम्हारा समाधिका समय नहीं आया। मानव जातिके

---

१. "सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातंगदेहजम्। देवा देवं विदुर्भस्म गूढांगारान्तरौजसम्।"—सम्यग्दर्शनसे युक्त चाण्डालको भी गणधर आदिने देव कहा है। वह तो उस अग्निके समान है जिसका तेज भस्मसे दबा हुआ है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सर्वोदयके लिए तुम्हें अभी बहुत बड़ा त्याग करना है। तुम्हें अभी जगत्कल्याणकी अभय भावना भाना है। तुम्हारे जीवनमें जो परहितकातरताके अंकुर हैं उन्हें पल्लवित और पुष्पित करना है। अतः भद्र, इस 'जिनवेष' को छोड़कर तुम दूसरा वेष लेकर यथेष्ट स्निग्ध आहारसे इस भस्मक रोगको शान्त करो। जीवन को असमयमें समाप्त करना समाधिमरणका लक्ष्य नहीं है। किन्तु उसका परम उद्देश्य तो यह है कि जब रोग निष्प्रतीकार हो जाय और मरण अनिवार्य ही हो तब मरणका स्वागत करना। जिस तरह समाधि से जिए उसी तरह समाधिसे ही मरना। भद्र, तुम्हारा रोग असाध्य नहीं है।

समन्तभद्र—गुरुदेव, यह आप क्या कह रहे हैं! क्या मैं इस दीक्षाको छोड़ दूँ! क्या आप यह कह रहे हैं कि मैं अपनी जीवनभरकी साधनापर पानी फेर दूँ? जिन व्रतों और शीलोंको दरिद्रकी पूँजीकी तरह मैंने सँजोया है, जिस दीपसे मेरा मन आलोकित है उसे अपने ही हाथों बुझा दूँ? नहीं, मुझसे यह नहीं होगा। मरण यदि कल होना है वह आज ही हो जाय, पर मैं इस पुनीत निर्ग्रन्थताको नहीं छोड़ सकता। आखिर मात्र जीनेके लिए यह छोड़ दूँ? नहीं, यह कभी नहीं होगा। गुरुदेव, मुझे क्षमा करें। मेरी हत्या मेरे ही हाथों न कराएँ। मैं अव्रती होकर नहीं जी सकता?

गुरुदेव—भद्र, रोओ नहीं। मैं तुम्हें जो कह रहा हूँ वह एक महान् उद्देश्यके लिए। उस महा-साधनाके लिए अपने मानसकी तैयारी करो। आ० विष्णुकुमारने भी अकम्पन आदि मुनियोंकी रक्षाके लिए अपना मुनिव्रत छोड़कर दूसरा वेष धारण किया था। तुम तो सदा उन्हींका आदर्श सामने रखते रहे हो। यदि आज मानव कल्याणके लिए कुछ समयको तुम्हें व्रतोंको स्थगित करना पड़ रहा है तो यह लाभ की ही बात है। तुम्हारी व्रतोंकी आत्माके प्रति असीम निष्ठा ही फिर तुम्हें इससे भी उच्चतर पदपर ले जायगी। अतः वत्स, मेरी बातको स्वीकारकर तुम इस मुनिव्रतको छोड़कर शरीर स्वस्थ करो।

समन्तभद्र यह सुनते ही मूच्छित हो जाते हैं। और मूर्च्छामें ही बड़बड़ाते हैं—नहीं····नहीं····नहीं होगा····मैं····व्रत····व्रत····नहीं····नहीं छोड़ूँगा····प्राण····चले····जायँ।

उपचारसे मूर्च्छा दूर होते ही वे फिर बोले—गुरुदेव, मेरी रक्षा करो, तुम्हारी शरण हूँ। मुझे बचाओ। व्रतोंके छोड़ते ही कहीं मैं स्वयं नष्ट न हो जाऊँ। आज तो व्रतोंको देखकर ही मैं इस महा भस्मक ज्वालामुखीमें भी शान्त हूँ, और इसे चुनौती देता हूँ कि जला ले, मेरी हड्डियोंको भी तड़-तड़ा ले, पर मैं पराजित नहीं होऊँगा। यह कहते कहते फिर उनकी आँखोंके आगे अन्धेरा छा गया·······।

गुरुदेवने उस समय वादको बढ़ाना उचित नहीं समझ आदेशक स्वरमें कहा—अच्छा भद्र, अब व्यर्थ तर्क न करो। मेरी आज्ञा है कि 'सर्वोदय' और अन्ततः 'स्वोदय'के लिए तुम मेरे दिए हुए व्रतोंको कुछ काल के लिए मुझे सौंप दो। यह मेरी थाती है। उठो, शीघ्रता करो। यह मेरी अन्तिम आज्ञा है।

समन्तभद्र—'आज्ञा' 'आप मुझे यह आज्ञा दे रहे हैं गुरुदेव! 'तथास्तु' मैं आपके दिए हुए व्रतोंके प्रतीक रूप इन संयम-साधनों को आपकी ही आज्ञासे चरणोंमें रखता हूँ। गुरुदेव, मुझे न भूलें, इन चिह्नों को पुनः मुझे दें। मैं आपके चरणरज की छायामें आपकी आज्ञा पाल रहा हूँ।

सारा वायुमण्डल निःस्तब्ध था। समन्तभद्रकी आँखोंसे अश्रुधारा बह रही थी। वे फूट-फूटकर रो पड़े और गुरुदेवको अन्तिम वन्दनाकर चल पड़े।

विजय कुछ दूर तक उनके साथ गए। विजयने देखा कि महामुनि समन्तभद्र वृक्षकी छाल लपेटकर तापसका वेष धारण किए चले जा रहे हैं··········वे देखते ही रहे·······अनायास उनके मुँहसे निकल पड़ा—'मणि कीचड़में पड़ गया, अग्नि राखसे ढँक गई' पर 'सर्वोदय' के लिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org